नजरिया एक संसाधन है...

✍ **प्रमोद दीक्षित 'मलय'**

मेरे ब्लॉक में लगभग 450 विद्यालय हैं, पिछले तीन वर्षों के दौरान उनमें में से लगभग ढाई–तीन सौ विद्यालयों में मेरा जाना हुआ है। कभी अनुश्रवण एवं अनुसमर्थन के लिए तो कभी किसी शिकायत की जांच के सिलसिले में। स्वभाविक है शिक्षकों के साथ–साथ बच्चों और अभिभावकों से भी मिलना और संवाद होता रहा है। इस दौरान मैं शिक्षकों की शिक्षण विधियों, बच्चों और समुदाय से उनकी बातचीत के तौर–तरीकों और समग्र विद्यालयी व्यवस्था में उनकी भूमिका से खासा परिचित हुआ हूं। इस दौरान मेरे मन में यह प्रश्न हमेशा उमड़ता–घुमड़ता रहा है कि बेहतरीन अकादमिक उपलब्धियों वाले शिक्षक–शिक्षिकाओं के होने के बावजूद भी सरकारी विद्यालय समाज की श्रद्धा के केंद्र क्यों नहीं बन पा रहे हैं। और यह भी कि किसी विद्यालय में उपलब्ध संसाधनों का उसकी शैक्षिक गुणवत्ता पर कितना प्रभाव पड़ता है।

अक्सर पाता हूं कि एक विद्यालय में यथावश्यक संसाधन उपलब्ध होते हुए भी अपेक्षित परिणाम नहीं आते। वहां अध्ययनरत बच्चों में वैसी कुशलता और निखार नहीं दिखाई देता जो कि वय और कक्षा के स्तर अनुसार उनमें होना चाहिए। वहीं दूसरी ओर, किसी अन्य विद्यालय में मूलभूत संसाधनों के अभाव के बावजूद परिणाम उत्साहित करने के साथ ही सामान्य जन में सरकारी विद्यालयों के प्रति एक आस्था, विश्वास और श्रद्धा का भाव उत्पन्न करते हैं। तो कोई तो ऐसी चीज या भावना है जो संसाधनों से ऊपर है। क्या है वह? आखिर ऐसा क्यों होता है?

मैं यहां पर दो उदाहरण रखता हूं। मैं 2011 में जब चयनित होकर बी.आर.सी. में आया तो मुझे एक यक्ष प्रश्न हमेशा झकझोरता–कचोटता कि क्या इस ब्लॉक में एक भी ऐसा सरकारी विद्यालय है जो समुदाय से उठने वाले प्रश्नों यथा– इन स्कूलों में पढ़ाई नहीं होती, यहां मास्टर कामचोरी करते हैं, यहां बच्चों की बेरहमी से पिटाई होती है, ये बच्चों के लिए कैदखाने हैं, यहां मजदूरों के बच्चे पढ़ते हैं, यहां पढ़ रहे बच्चों का कोई भविष्य नहीं है, आदि के उत्तर दे सकने में समर्थ हो। शिक्षकों से बात करता तो उत्तर मिलते कि अपेक्षित संसाधन नहीं हैं, गुणवत्ता कहां से लाएं। फिर मैंने ऐसे विद्यालयों की सूची बनाई जहां पर्याप्त संसाधन थे और सीखने–सिखाने की प्रक्रिया में उनका उपयोग कर शैक्षिक सुधार लाते हुए बच्चों में मूलभूत दक्षताओं का विकास किया जा सकता था। मैंने वहां कार्यरत शिक्षकों से शिक्षण में गुणात्मकता लाने की बात की, पर कोई शिक्षक तैयार होता न दिखा। मुझे लगा या तो उनकी काम में रुचि न होने के

कारण उनकी रचनात्मकता और इच्छाशक्ति मर चुकी थी या व्यर्थ में आ बैल मुझे मार की तर्ज पर कोई जिम्मेवारी लेना नहीं चाह रहे थे। और इस प्रकार हजार बहाने कर वे मेरे प्रस्ताव पर सहमत न होते।

वहीं उन विद्यालयों में, जिनमें कोई संसाधन नहीं थे, मेरा काम करने का कोई मन नहीं था। क्योंकि एक तो वहां काम कैसे किया जा सकता है, इसका मुझे न कोई अनुभव था और न ही समझ और दूसरा शिक्षकों का वही संसाधनों की कमी का रोना–धोना। इस तरह भी कह सकते हैं कि उस समय मेरी समझ इतनी ही थी कि जहां पर्याप्त संसाधन होते हैं वहीं बेहतर शिक्षण और अन्य गतिविधियां करना संभव हो सकता है। हालांकि इसके पूर्व मैंने कुछ बेहतर काम अपने विद्यालय में किए थे लेकिन भिन्न परिस्थितियों में विभिन्न विद्यालयों में काम करने का मुझमें कोई माद्दा न था। मैं निराश हो चुका था लेकिन काम करना चाह रहा था। मैं ब्लॉक में कम से कम एक विद्यालय ऐसा खड़ा करना चाह रहा था जिसे देख–सुनकर लोगों के मन में सरकारी विद्यालय के प्रति विश्वास पैदा हो।

मेरी खोजी यात्रा जारी थी। लेकिन कहीं कोई राह नजर नहीं आ रही थी। वैसे जहां भी संभावना दिखती मैं वहां बात करता। काफी जद्दोजहद और खोजबीन के बाद मेरा श्रम सार्थक हुआ। मुझे एक जूनियर स्तर का विद्यालय मिला। यह मेरे घर से बी.आर.सी. आने–जाने के रास्ते में कार्यालय से पांच किलोमीटर दूर था। बाहर से देखते ही लगा कि यही है वह विद्यालय जिसकी मुझे अरसे से तलाश थी। अच्छा–सा भवन, साफ–सुथरा परिसर, क्यारियों में दर्जनों प्रकार के फूल एवं बेलों सहित अन्य पेड़–पौधे, बढ़िया कार्यालय, चहारदीवारी और कंटीले तारों से घिरा खेल का बड़ा मैदान एवं खेल के सामान, बालक/बालिकाओं के लिए अलग–अलग शौचालय, व्यवस्थित रसोईघर, पुस्तकालय और विज्ञान प्रयोगशाला भी। तो एक अच्छे विद्यालय में जो संसाधन होने चाहिए वो सभी वहां थे। मैं वहां गया। लेकिन बच्चों का कहीं कोई स्वर–कलरव नहीं, कोई चहल–पहल नहीं। वहां पसरा मरघटिया सन्नाटा मुझे चिढ़ा रहा था।

विद्यालय के प्रभारी जो कि एक शिक्षक संगठन के प्रदेश स्तरीय बड़े पदाधिकारी थे, कड़े अनुशासन के पक्षधर थे। बच्चों को दंड देना अपना अधिकार समझते थे। उन्होंने

विद्यालय की खूबियों की चर्चा की और बड़े अधिकारियों के विद्यालय देखने व प्रशंसा करने के लिखित साक्ष्य और फोटो दिखाए। मुझे अपने साथ ले जाकर एक–एक कक्षा दिखाई, जहां चहकते बच्चों की जगह निष्प्राण देह यंत्रवत उनके आदेशानुसार उठ–बैठ रही थीं। प्रयोगशाला और पुस्तकालय भी दिखाए। साथ ही वे यह कहना नहीं भूल रहे थे कि ये सब अपने निजी पैसों से कर रहे हैं। और ऐसी व्यवस्था जिले के किसी अन्य विद्यालय में नहीं मिलेगी। साथ चल रहे एक शिक्षक द्वारा हम लोगों के फोटो लेना जारी था। घूमकर हम उनके कार्यालय में बैठे गए। उन्होंने अलमारी से एक डायरी निकालकर सामने रखते हुए कहा, ''सर, डायरी में स्कूल के बारे में कुछ अच्छा लिख दीजिए।'' मैंने कहा कि यहां लिखने लायक कुछ भी नहीं है। लिखना भी है तो दो महीने बाद लिखूंगा। यदि आप तैयार हों तो हम सब मिलकर इस बारे में चर्चा करते हैं। भोजनावकाश हो चुका था और अन्य शिक्षक भी वहीं चर्चा में शामिल हो गए थे। मैंने बहुत सारी बातें पूरे शिक्षकों के साथ साझा कीं। मैंने अनुभव किया कि उन्हें लग रहा था कि मुझे उनके विद्यालय में काम करने की कोई जरूरत नहीं हैं। उनमें उत्साह नहीं था और वे अनमने भाव से, शायद पद की गरिमा का मान रखते हुए तैयार हुए।

योजनानुसार मैंने वहां प्रतिदिन कुछ समय देना प्रारंभ किया। मेरा वहां आना उन सबको अखर रहा था लेकिन वे मौन थे। मैंने बच्चों को दंड न देने, बच्चों से बातचीत करने,

कक्षा में अधिकाधिक प्रश्न पूछने की आजादी देने, उनकी रचनात्मकता को प्रकट होने के अवसर उपलब्ध कराने और विद्यालय को आनंदघर बनाने की दिशा में बढ़ने के कुछ तरीकों पर बात की। उनके लिए यह सब जैसे किसी अनजानी दुनिया की बातें थीं। मुझे विश्वास था कि हम सब कुछ सार्थक रचते हुए सकारात्मक बदलाव लाने में सफल होंगे।

धीरे–धीरे ही सही पर वातावरण में छाया कुहासा छंटने लगा था। एक दिन बातचीत में पता चला कि बच्चों को न तो पुस्तक छूने की इजाजत है और न ही प्रयोगशाला में घुसने की। लेकिन मैंने फोटो में तो बच्चों को पढ़ते और प्रयोग करते देखा था। मन मानने को तैयार न था। खैर, मैंने कहा कि हम कल कुछ प्रयोग करेंगे और आपको किताबें भी मिलेंगी। बच्चों ने जोर से ताली बजाई। पर अगले कई दिनों तक प्रधानाध्यापक पुस्तकालय की अलमारी और प्रयोगशाला कक्ष की चाबी घर से लाना भूलते रहे। मेरे काम करने के तरीकों से उन्हें अपना अनुशासन भंग होता दिखा। वे मेरे काम में अड़ंगे डालने लगे। फिर कोई न कोई बहानाकर बच्चों से मिलने भी न दिया जाता। बच्चे मुझसे मिलना चाह रहे थे। कक्षाओं में उनके शिक्षक पढ़ा रहे होते और वे खिड़कियों से मुझसे मौन संवाद कर रहे होते। उनकी बेबसी उनके मुरझाए चेहरों पर चिपकी हुई थी। अब मेरे लिए काम कर पाना मुश्किल था। दो महीने काम किया। जल्द ही आशा निराशा में बदल गई। विश्वास टूट गया। मुझे वह विद्यालय छोड़ना पड़ा। यह मेरी हार थी। पर मैं यहां से बच्चों के साथ काम करने की एक समझ लेकर जा रहा था जो मेरी अपनी थी।

मैं हर बार सपने से जागकर यथार्थ के खुरदरे धरातल से टकराता और पुनः अंदर की शक्ति समेटकर खड़ा होता, चल पड़ता। असीम रेगिस्तान में भी नखलिस्तान मिल जाते हैं। ऐसे ही एक शिक्षक मुझे अनायास मिल गए। उन्होंने मेरे प्रस्ताव पर न केवल रुचि दिखाई बल्कि पूरा सहयोग देने की इच्छा भी व्यक्त की। संयोग से ये शिक्षक संकुल प्रभारी भी थे। हम चल पड़े थे लेकिन जाना कहां है, लक्ष्य मालूम न था। लेकिन पिछले विद्यालय का अनुभव बहुत काम आया। तय हुआ कि सबसे पहले विद्यालय के सभी शिक्षकों के साथ बैठकर उनका मन समझा जाए और उनका सहयोग लिया जाए। बैठक हुई। मैंने पूरी बात सामने रखी और उनके विचार एवं सुझाव रखने को कहा। हम दोनों के अलावा तीन शिक्षक और थे। सभी पुरुष थे। लगभग सबका मानना था कि इन विद्यालयों में चाहे जितनी मेहनत कर ली जाए परिणाम नहीं मिलने वाला। क्योंकि यहां पढ़ने वाले बच्चे गरीब किसान और मजदूरों के हैं। वे पढ़ाई पर कोई ध्यान नहीं देते हैं। फिर कौन इन्हें पढ़–लिखकर डॉक्टर–इंजीनियर बनना है। यहीं हल जोतना है। जो समर्थ हैं वे अपने बच्चों को कस्बे के प्राईवेट स्कूलों में भेजते हैं। पूरा वातावरण नकारात्मकता से भर गया था। लगा ऐसे लोगों के साथ कैसे काम कर पाऊंगा जिनमें सकारात्मकता की कोई धुंधली–सी भी किरण नहीं दिख रही। केवल वे शिक्षक मेरे साथ खड़े थे।

हम तुरंत काम पर डट गए। मैंने प्रधानाध्यापक से विज्ञान और गणित किट बाहर निकालने का अनुरोध किया। अलमारी में टीन के दो छोटे बक्से रखे थे। उनको निकाला और खोला गया। उनके अंदर बस, दो–चार टूटी हुई परखनलियां, जंग लगी कीलें, स्केल, चुंबक, चपड़ा, धागे, रबर बैंड, सेफ्टी पिन, स्प्रिट लैम्प, चटका हुआ बीकर आदि ही थे, जो किसी काम के नहीं थे। हां, दोलक, दर्पण और लेंस साफ करने के बाद प्रयोग लायक हो गए थे।

पुस्तकालय की जानकारी मांगने पर दो लाल बोरियां एक बड़े संदूक से निकालकर बरामदे में पटक दी गईं। बोरियों में किताबें थीं जो सालों से बंद थीं। बंद रहने और बारिश के कारण उनमें एक खास प्रकार की गंध बस गई थी। पन्नों में नमी के कारण कुछ पीलापन भी आ गया था।

फिर भी, बीच की किताबें ठीक हालत में थीं। उन्हें धूप में रखने का निश्चय कर मैदान में दरी बिछाई गई। बच्चे बड़े कौतूहल से यह सब देख रहे थे। मैंने इशारे से कुछ बच्चों को पास बुलाया और किताबों को धूप में रखने में सहयोग करने को कहा। एक–एक कर किताबें निकाली जातीं और बच्चे उन्हें संभालकर दरी के ऊपर रख आते। उन्हें देखादेखी कुछ अन्य बच्चे बिना बुलाए आ गए। उनमें बहुत सारी किताबें बच्चों के मतलब की ही नहीं थीं।

मैं देख रहा था कि बच्चे उन किताबों को लालसा भरी नजरों से देख रहे हैं। वे किताबें छूना चाहते थे। पुस्तकों की दुनिया में जाना चाहते थे। शिक्षक उन्हें छूने नहीं दे रहे थे।

मैंने बच्चों से कहा, पुस्तकालय व्यवस्थित कर जल्द ही उनको पुस्तकें उपलब्ध करा दी जाएंगी। मैं सोच रहा था कि कैसी पुस्तकें खरीदी गईं और बच्चों के सीखने से उनका कितना संबंध है। क्या पुस्तकें बच्चों के हाथों तक पहुंचीं ? क्या पुस्तकालय बच्चों के भाषागत कौशलों के विकास में सहायक हुआ? और क्या उसके कारण बच्चों में सामाजिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक चेतना जाग्रत हुई ? क्या बच्चों में स्वयं निर्णय लेने की क्षमता का विकास हुआ है? क्या किसी विशेष संदर्भ में वे अपना कोई मत बना पाने की स्थिति में हैं? शायद नहीं, बिल्कुल नहीं। तो इसका मतलब है कि विद्यालय में केवल पुस्तकालय होना भर पर्याप्त नहीं है। उसका समझ भरा उचित उपयोग होना बहुत जरूरी है। और यह काम केवल समझदार शिक्षक ही कर सकता है।

हम आगे बढ़ रहे थे। मैं सप्ताह में तीन दिन उस विद्यालय में जाने लगा था। एक दिन मैंने देखा कि विज्ञान के शिक्षक बच्चों के साथ विभिन्न पेड़–पौधों की पत्तियों पर काम कर रहे थे। कक्षा में छोटे–छोटे कई समूहों में बच्चे पत्तियों को सादे कागज पर पेंसिल के माध्यम से उभार रहे थे। कक्षा में सक्रियता थी और बच्चे ज्ञान निर्माण में स्वयं सहभागी थे। उनके चेहरों पर कुछ नया सीख पाने की चमक मैं देख पा रहा था। ऐसे ही गणित शिक्षक ने गणित की तमाम अवधारणाओं की समझ बनाने के लिए बांस की खपच्चियों, थर्माकोल एवं गत्तों के टुकड़ों में से बच्चों की मदद से कोण, त्रिभुज, चतुर्भुज, शंकु, गोला आदि का निर्माण किया। विज्ञान विषय की भी सामग्री इसी प्रकार तैयार हुई।

ऐसे ही मैंने हिंदी में पर्यायवाची, विलोम शब्द, समास, संधि, तद्भव, तत्सम शब्दों के कार्ड बनाकर खेल–खेल में बच्चों में समझ बनाने की कोशिश की। बच्चों में मौलिक चिंतन मनन करने, कल्पना करने एवं अभिव्यक्ति के विकास के लिए उनके परिवेश से जुड़े विषयों पर विचार लिखवाना प्रारंभ किया। मासिक दीवार पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ हुआ जिसका पूरा काम बच्चे स्वयं करते। बच्चों को यह सब अटपटा लगा लेकिन एक बार समझ बन जाने पर वे अपने भाव प्रकट करने लगे जो किसी किताब से रटे हुए नहीं बल्कि उनके अपने थे। तीन महीने होते–होते शिक्षकों ने बच्चों और अभिभावकों के व्यवहार में बहुत बड़ा बदलाव अनुभव किया।

यदि शिक्षक कार्यकुशल, विषय की समझ रखने, बच्चों के मन को पढ़ने वाला और उनका संगी–साथी है तो निश्चित रूप से बिना किसी संसाधन के ही वह गुणवत्तापूर्ण शिक्षा देने में समर्थ हो सकता है।

प्रमोद दीक्षित 'मलय' : ब्लाक संसाधन केंद्र, नरैनी (बांदा) में सह–समन्वयक हिंदी भाषा के पद पर कार्यरत। प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में गुणात्मक बदलावों, आनंददायी शिक्षण एवं नवाचारी मुद्दों पर सतत् लेखन एवं प्रयोग। संपर्क : 79/18, शास्त्री नगर, अतर्रा पिनकोड – 210201, जिला–बांदा, उत्तर प्रदेश । मोबाइल– 09452085234 ई–मेल : pramodmalay123@gmail.com